अहं मेरा गेय

डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

'अहं मेरा गेय' निःसन्देह नई कविता की एक सशक्त उपलब्धि है। इसकी अनुभूतियाँ समसामयिक जीवन का प्रामाणिक इतिहास हैं। भाषा की प्रतीकात्मकता एवं बिम्बात्मकता का प्रभाव अनुपम है।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

अहं मेरा गेय

•

१९६४–'६८ की कविताएँ

•

रचयिता

डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

वितरक

उमेश पुस्तक प्रकाशन

१५६, अशोक नगर, उदयपुर

प्रकाशक : कवि के निमित्त
साहित्य-विज्ञान प्रकाशन, उदयपुर

प्रथम संस्करण : १९६९ ई०

मूल्य : ६ रुपये

मुद्रक : स्वदेशी प्रिंटर्स, उदयपुर

ममतामयी जननी

(श्रीमती सियादुलारी मिश्रा)

की

पावन स्मृति में

जो २ जून १९६८ को

इस असार संसार से विदा हो गईं

स्वकीय

'अहं'– जो इस काव्य का गेय है–आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक अर्थ का 'अहं' नहीं है। यह व्यक्ति का वह स्वरूप है, जिस पर किसी भी ज्ञान, विज्ञान, शास्त्र, दर्शन, या कला का पुरातन आवरण नहीं है; जिसने अपने अनुभवों को ही अपना प्रमाण मानकर जीवन जिया है, जिसने किसी बीते युग की परम्परा के लिए अपने परिवेश के सत्य को नकारा नहीं, अपने संदर्भों को झुठलाया नहीं, अपितु जो अपनी अनुभूतियों से एक समानान्तर परम्परा को जन्म देता रहा है। उसकी यह परम्परा पुरातन से न तो कटी हुई है, न आने वाले कल के व्यक्ति पर विवशता बन कर छा जाना चाहती है। बीते कल की परम्परा को उस व्यक्ति ने अपने अनुभवों से प्रमाणित किया है, जो अंश समानान्तर खड़ा नहीं हो सका उसे मृत घोषित किया है। कल के व्यक्ति के लिए भी आज के व्यक्ति का वह अनुभव मृत सिद्ध होजाने वाला है, जो उसके अपने अनुभव से प्रमाणित नहीं हो सकेगा।

अनुभवों की प्रामाणिकता का प्रतिमान वह 'अहं' मात्र व्यक्ति नहीं है, समूह भी है, क्योंकि एक व्यक्ति के अनुभव समान परिवेश और संदर्भों में अनेक व्यक्तियों के अनुभव हैं। ये अनुभव अतीत की किसी जाति की परम्परा से प्रमाणित नहीं होते, अपितु उसकेजीवन्त अंश को प्रमाणित कर अपने उपयोग में लाते हैं और उन्हीं के समान अपने सामूहिक अनुभवों के प्रामाणिक अश को आगे की पीढ़ी के लिये छोड़ जाते हैं।

मुझे इसके अतिरिक्त जो कुछ कहना है, वह कविताएँ ही कहेंगी।

रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

प्राक्कथन

डा० दिनेश ने कवि, नाटककार और आलोचक के रूप में पर्याप्त यश अर्जित किया है। अब तक उनके १२ काव्य, ७ नाटक, १५ आलोचना-ग्रन्थ, २ उपन्यास तथा कई बालोपयोगी कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। प्राचीन अज्ञात ग्रन्थों का भी उन्होंने सम्पादन किया है। यथा, सूरति मिश्र के ८ ग्रन्थ, आचार्य सोमनाथ के २ ग्रन्थ। मैंने डा० दिनेश के अधिकांश ग्रन्थों को देखा है और उनसे अत्यधिक प्रभावित हुआ हूँ। मैं उनमें एक श्रेष्ठ साहित्यकार की बहुमुखी प्रतिभा का विकास देख रहा हूँ। अब तक उनके ५ ग्रन्थ भारत सरकार, राजस्थान सरकार तथा राजस्थान साहित्य अकादमी से पुरस्कृत भी हो चुके हैं। उनका 'सारथी' महाकाव्य १९६२ में केन्द्रीय साहित्य अकादमी से पुरस्कार-हेतु प्रथम चयन में चुनी गई १९ श्रेष्ठ पुस्तकों की सूची में था, किन्तु उस वर्ष किसी भी हिन्दी-ग्रन्थ पर पुरस्कार घोषित नहीं हो सका। तथापि उस सूची में स्थान मिलने से भी डा० दिनेश की काव्य-प्रतिभा का महत्त्व तो सामने आता ही है। अपनी साहित्य-सेवा के फल-स्वरूप वे राजस्थान साहित्य अकादमी की सरस्वती-सभा एवं गवर्निंग बोर्ड के सदस्य तथा सर्जनात्मक साहित्य विभाग के संयोजक हैं।

'अहं मेरा गेय' की अधिकांश कविताओं को मैं स्वाधीनता के पश्चात् रचित हिन्दी-काव्य की श्रेष्ठतम उपलब्धियों में सम्मिलित कर सकता हूँ। इन कविताओं में मनुष्य के अनुभवों की प्रामाणिकता ही नहीं है. उनसे जन्मलेती एक स्वस्थ परम्परा भी है। समसामयिक जीवन की विरूपता और विघटन का ही इनमें चित्रण नहीं है, उन तत्वों की तलाश का भी प्रयास है, जो जीवन को स्वस्थ रूप में संघटित करके आने वाली पीढ़ी के लिए एक परम्परा छोड़ सकते हैं। भाषा की सरलता और उसमें सहज अनुभूति का प्रवाह मन पर स्थायी प्रभाव डालता है तथा प्रतीकों एवं बिम्बों की स्वाभाविक योजना से वह प्रभाव रचनात्मक रूप भी धारण करता जाता है।

मुझे विश्वास है कि यह संग्रह साठोत्तरी हिन्दी-कविता के इतिहास में डा० दिनेश की एक महत्त्वपूर्ण देन माना जाएगा।

—डा० देवराज उपाध्याय

अभिमत

'मधुरजनी' में मूलतः जीवन की मधुर और सुकुमार अनुभूतियों का प्रकाशन है। × × मधुरजनी जैसे गीत-काव्य की आनंद-मय स्वर-लहरी हमारे लिए आवश्यक है। —डा० भगीरथ मिश्र

- 'सारथी' महाकाव्य की रचना साम्प्रतिक हिन्दी काव्य-धारा की उच्च स्तर की रचनाओं में से है। —आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
- 'विश्वज्योति बापू' जन-कल्याणकारी काव्य है। —डा० मैथिलीशरण गुप्त
- 'बापू' के वर्णनों में रोचकता है। भाषा प्राञ्जल और प्रवाह-मय है। —डा० गुलाबराय
- मुझे 'संघर्षों के राही' में वर्तमान से असंतोष और भविष्य की स्वस्थ कल्पना का सजग प्रतिबिम्ब मिला। —डा० हरिवंशराय 'बच्चन'
- दिनेश जी के गीतों में कुछ ऐसी सरलता और गेयता है, जो हृदय को अनायास अपनी ओर खींचती है। —उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
- 'सारथी' पर मैंने एक विहंगम दृष्टि डाली। निःसन्देह यह कृति हिन्दी के पाठकों के लिए रुचिकर सिद्ध होगी। —डा० एस० राधाकृष्णन
- दिनेश जी में सौन्दर्य की ग्रहण-शक्ति है, भाव के स्पर्श का भी उनमें अभाव नहीं है। × × × ज्योतिरथ के इस सारथी से हिन्दी का पंथ अवश्य आलोकित हुआ है। × × 'सारथी' नवीन काव्य-क्षेत्र की एक महत्त्व पूर्ण रचना है। —डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय
- 'विश्वज्योति बापू' एक सफल रचना है। —डा० विनयमोहन शर्मा
- 'सदानीरा' दिनेश जी का एक सफल रंगमंचीय तथा उच्च स्तरीय साहित्यिक नाटक है। —लक्ष्मीनारायण मिश्र
- 'आयाम' की भाषा और बिम्ब-योजना काव्य के उच्च सोपान पर लेजाती है। —डा० देवराज उपाध्याय
- 'हिन्दी-काव्य में नियतिवाद' प्रथम श्रेणी का शोध-प्रबन्ध है। —आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
- 'हिन्दी-शिवकाव्य' शोध-ग्रन्थ हिन्दी के लिये डा० दिनेश की महत्त्व-पूर्ण देन सिद्ध होगा। - डा० आनंदप्रकाश दीक्षित
- डा० दिनेश ने नितान्त अछूता विषय ,'शिवकाव्य', चुनकर उसका मौलिक विवेचन किया है। गंभीर अध्ययन , स्पष्ट विश्लेषण और तथ्य-पूर्ण निष्कर्ष इस ग्रन्थ की विशेषताएं हैं। —डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

कविताएँ

१. समर्पण

उन्हें
जो लौटे नहीं हैं
हमारी श्रद्धाञ्जलि !

उन्हें
जो लौटेंगे
प्रतीक्षा अर्पित है

उन्हें
जो लौट आए हैं
अर्घ्य चढ़ा दिया है

किन्तु
कुछ ऐसे भी हैं
जो गए ही नहीं
क्या दें उन्हें ?

और
जो जाएँगे भी नहीं !

हमारा अनन्त अंधकार
सदा के लिए
समर्पित है उन्हें !

क्योंकि
वे अँधेरे की सन्तान हैं ।

८. बौने का प्राथना

मैं
विराट् होने चला था
किन्तु बौना हो गया हूँ
मेरी सुरसा ने
आकाशचारी चाँद और मंगल को
निगल लिया है।
तारों से लदे आकाश-वृक्ष को
झकझोर कर हनुमान ने ठूँठ बना दिया है।
और
अब वह
सीता के आँसुओं में डूब कर
सिमट रहा है !

राम !
मैं विराट् होने चला था
किन्तु जब सागर ही विराट् नहीं रहा
तब मैं
किसे नापूँ ?
आकाश सिकुड़ गया है
पृथ्वी छोटी हो गई है
पाताल का पता नहीं
तब मैं किसे नापूँ ?

बोलो मेरे भगवान् !
मैं किसे नापूँ ?

तुम मुझसे बाहर जाकर भी
वामन के वामन ही रह गए !
और
मेरे विराट् में
बौनापन समा गया

काश ! तुम न होते
मैं 'मैं' – शून्य होता
तो यह धरती
यह आकाश
और मुझमें समाया हुआ
पाताल
ये सब रहते !
चाँद पिण्ड होकर भी
नीली झील का
कुमुद रहता !
मंगल दीप की तरह
उसमें तैर कर
मुझे
मेरे विराट् से मिलाता।

किन्तु,
तुम थे
इसलिए तुम बाहर गये
और तुम्हें निष्कासित कर
मेरे अस्तित्व ने
अपने विराट् को नापना चाहा !

राम !
तुम नहीं लौटोगे ?
भले ही तुम न हो
पर लौट आओ
तुम्हारे बिना मेरा बौनापन
मुझे खा रहा है।
ये कौशिकी खण्डहर
मेरी आवाज़ों से चीख़ रहे हैं।
भीड़ में खड़ा हुआ मैं
अकेला हो गया हूँ !
कोलाहल ने मेरे कान छीन लिये हैं

अपने अस्तित्व को खोजती हुई आँखें
अँधेरी घाटियों में भटक गई हैं !
नासिका को मौत की गंध चुरा ले गई है
त्वचा गुलाब के काँटों से लटक कर
स्पर्श खो बैठी है।
रसना
अनजाने स्वाद की खोज में
आकाश में टँगे पुलों से
नीचे
कहीं दूर उतर गई है।

और मैं
इन सब से परित्यक्त
आह ईश्वर !
तुमसे भी परित्यक्त
'मैं'
बहुत बौना हो गया हूँ !

चेतन को छोड़कर
अवचेतन की गुहाओं में
मैंने बहुत चक्कर लगाए
किन्तु वहाँ
प्रेतात्माओं की चीखों के अतिरिक्त
और कुछ न मिला !

ईश्वर !
माना कि तुम नहीं हो
लेकिन मेरा अस्तित्व तुम्हें बनाना चाहता है
अपने बौनेपन को मिटाने के लिए
विराट् की कल्पना करना चाहता है !
इसलिए हे ईश्वर !
तुम जन्म जाओ
चाँद और मंगल बनाओ

मुझे मेरी आँखें दो
कान, त्वचा और रसना दो !
मेरी नासिका की घृणा को
आस्था बना दो !

ईश्वर !
मैं तुमसे
(जो स्वयं अस्तित्व-हीन हो)
अपने विराट् अस्तित्व के लिए
प्रार्थना करता हूँ
तुम मेरे अवचेतन की काली झील से
सूरज की तरह
उदय हो जाओ
ताकि
मुझे विराट् का अनुभव हो
और इस कोलाहल के हर अर्थ को
मैं नया बोध दे सकूँ ।
इतिहास की ऊँची मीनार पर चढ़कर
अँधेरे में खिसकती
अपनी पीढ़ियों को
अनागत के सूर्य की
आवाजें सुना सकूँ ।........

३. ग्रहं मेरा गेय

ग्राधी रात
हर चौराहे पर
एक चिता जलती है
ग्रौर उससे
ग्रावाज़ ग्राती है :
तन मरा है
पर
ग्रभी तो ग्रहं जीता है
नगर की भीड़ में
खोया नहीं है ।
ग्रौर कन्धों पर किसी के
हार कर सोया नहीं है ।

जन्मते ही
झूठ की सब झिल्लियों को
फाड़कर, ग्राकाश को दे
वह इकाई की धरा से
जब बढ़ा पहचानने को
वृत्त ग्रपना
सब लगे कहने—
'मरा वह'
किन्तु वह इतना जिया
उस एक क्षरण में
वेद से विज्ञान तक के
सुख समर्पित होगए सब
उस निरावृत के चरण में !

वे सकल संस्कार
जिनको
देवताग्रों–दानवों ने

ढाँकने उसको
गढ़ा था
और शव पर
क़फ़न–जैसा आवरण बन
छा रहे थे
वह 'अहं' मेरा
उन्हें अर्पित चिता को कर रहा है
और उठकर
स्वयं–भोगी ज़िन्दगी के
नित नए संस्कार गढ़कर
जी रहा है।

मृत्यु हो सकती नहीं अब
नियति उसकी
क्योंकि अपने सत्य का वह
बन गया है स्वयं साक्षी !

वह समझता है
स्वयं जितना अकेला।
राग की झूठी शिराएँ
रक्त के आवेश में भर
छल नहीं सकतीं उसे अब।

हो भले अर्जुन
तुम्हारा सुत नहीं अभिमन्यु
तुमने वीरता की लीक को
अर्पित किया वह
किन्तु उसने ब्यूह की भीषण घुटन में
लीक अपनी ही बनाई।
वह नहीं अभिमन्यु था
जिसने चलाए बाण
केवल वह वही था

व्यूह में भी ज़िन्दगी का
रथ बढ़ाता आगया है पास मेरे।

और मैं
उसकी लकीरों को मिटाता
राह अपनी रच रहा हूँ।

जो समर्पित हैं विगत को
वे अजन्मे भी मरे हैं
और हो सकते अमर भी
क्योंकि जन्मे ही नहीं हैं
जी सकेंगे साथ मेरे
वे नहीं हर्गिज
मुझे तो
वर्तमानों से मिली है
जिन्दगी की धार
जिसके तीर पर
कल की चिता है
और भीतर
अनथके मेरे अहं की
लहरियाँ पथ खोजने को
चूमती आकाश चलतीं।

इसलिए अपने 'अहं' की
घोषणा मैं कर रहा हूँ
कह रहा हूँ
जिन्दगी मेरी नियति है।

अब नहीं
वह फूल मुझको
तुम जिसे हो फूल कहते
और वे काँटे तुम्हारे

अब नहीं झुठला सकेंगे
आज का अस्तित्व मेरा
आज मैं केवल वही हूँ
मैं स्वयं
जीकर जिसे पहचानता हूँ।

सत्य अब गीता नहीं है
क्योंकि मेरे युद्ध में वह
है मुझे कायर बनाती
चाहती है
मैं लड़ूँ वह युद्ध
जो मेरा नहीं है
धर्म-मृत-संस्कार का है
और मैं उसको समर्पित हो
स्वयं निष्काम बनकर
ज़िन्दगी का युद्ध हारूँ !

राम मुझको छल रहे हैं
मैं कहाँ खोजूँ
किसी वाल्मीकि का घर
और वह वाल्मीकि भी तो
भोगने देता नहीं है
भोगती सीता जिसे है !

किन्तु इनका दोष भी कैसे बताऊँ
ये सभी भी तो छले हैं
मृत्यु ने—इनकी नियति ने,
जो नियति मेरी नहीं है !

जी रहा हूँ
ताकि मैं उनकी नियति को
ओढ़ कर वह सब न खोजूँ
जो यहाँ मिलता रहा है

मृत्यु के पश्चात्
गौतम, ईशु, गांधी
औ' निराला के शवों को !

मर नहीं सकता
मुझे है क्योंकि भय
यदि मैं अकेला
हीन कुण्ठित
जूझता इतिहास जड़ से
मर गया तो
भीड़ अरथी ले चलेगी
काल की स्याही बहाते
उभर हस्ताक्षर कहेंगे
मृत्यु ! तुम से कौन जीता ?
और फिर मुझको जलाकर
आत्मा को शान्ति देंगे
जि़न्दगी में दूर थे जो !

अन्य दिन वे ही पथों पर
यह कहेंगे—
मर गया अच्छा रहा
वह राह को रोके खड़ा था !

और फिर हर बार मर कर
वे मुझे साक्षी करेंगे—
मृत्यु जीवन की नियति है !

झूठ इतना
झूठ भीषण
झेल मैं सकता नहीं हूँ
इसलिए मैं हर चिता में
सिर उठा कर यह कहूँगा
मैं कभी मरता नहीं हूँ ।

४. वे कहते हैं

लोग कहते हैं—
युद्ध होता है
चुप रहो
आँख मत खोलो
हवा में मत निकलो
आकाश की ओर मत देखो
राहों पर ताले डाल दो
बच्चों को दूध पिलाना बंद करदो
पुस्तक के पन्नों से रोशनी हटा दो।

वे कहते हैं
क्योंकि युद्ध होता है !

लेकिन
जब युद्ध नहीं होगा तब ?
तब वे कहेंगे—
हवा में गोलियाँ दागो
समुद्रों पर विस्फोट करो
ज़बानों पर लगाम लगाओ
पुस्तकों से पन्ने फाड़ दो
रोशनी में क़ब्रें खोदो।
क्योंकि वे जानते हैं—
उनकी शान्ति
युद्ध के बिना ज़िन्दा नहीं रह सकती !

किन्तु हम क्या करें
हमने न तो पुस्तकों से पन्ने फाड़े हैं
न हवा में गोलियाँ दागी हैं
हमने हर सागर को
अपना स्वर दिया है
बताओ
हम क्या करें ?

५. विरोधाभास

काँटों से घेर कर
तुमने लगाए हैं फूल
मैं इन्हें देखता हूँ
तो इनके रंग नहीं
असंख्य कंकाल उभर आते हैं।

कागज़ों पर चलती
तुम्हारी—कलम
बकरे की गर्दन पर चलता
कसाई का छुरा
दोनों होड़ करते हैं
दर्शन और विज्ञान
भीतर–बाहर
न जाने क्यों
दूर दूर दौड़ते हैं
जबकि रोज सुबह–शाम
इनके दरवाज़ों पर
गीधों की–कतारें लग जाती हैं।

आँतों मे फौलाद भरकर
मुस्काने का दावा करने वाले
तुम्हारे ओठ
जब शब्द निकालते हैं
तब जीवन की घाटियों में
अँधेरा चीखने लगता है।

क्या कहें तुम्हारी नीद को
सपने देखते हो
किन्तु आदमी के नहीं
प्रेत-छायाओं के !

६. भ्रम के परिधि

गुलाब का ताजा फूल
तुम्हें दिया है
और
ईश्वर से प्रार्थना की है
तुम्हारा यान
घने कुहरे में
पर्वत-शिखर से टकरा जाए !

चिमनी के धुएँ से तेज़
सिगरेट का धुआँ
बाहर का सारा भटकाव
सिमट गया है भीतर।

सिर पर हज़ार बाइबिल
लाखों .कुरान
करोड़ों गीताएँ
किन्तु हाथों पर रक्त !
रास्ते का हर मेहमान समझता है
उसकी आँखों में
नया बसन्त अँकुरा रहा है।

मुस्कान में बोझ से लदे हुए तुम
पत्रों की स्याही में डूबा हुआ मैं
दोनों कागजी बगीचों में घूमते हैं
काँटे बोते हैं
फूल तोड़ते हैं
मानते हैं
हम दोनों की धरती एक है
किन्तु आकाशों के अन्तर का
न तुम्हें बोध है
न मुझे !

७. हमारी यात्रा

हम
(जो स्वयं से अलग हैं)
धरती पर सोते हैं
हवा में जागते
चाँद पर खेलते हैं।

अन्तरिक्ष की बाँहों में
प्रकाश कसमसाता है
हम
उसे पार कर अँधेरे में घूमते हैं।

सागरों का विस्तार
कुछ अनाथ ध्वनियों में बँधकर
हमारे चरणों पर पछाड़ खाता है
और हम
(जो दम्भ से जन्मे हैं)
अपने बौनेपन से
विराट् को नापते हैं।

८. वाणी के प्रति

वाणी ! तेरे शब्द
हो गए व्यर्थ
और जो अर्थ
भरा था तूने उनमें
रीत गया है ।

अंगारों का मौसम
जिसको
अब तक झुठलाया था तूने
सिर पर खड़ा होगया तनकर
और बसन्त
बुलाया जिसको
तूने अगनित मनुहारों से
बीत गया है ।

अरी ! व्यर्थ पूजन मरंद का
व्यर्थ मधुप की गुंजारें हैं ।
दे न अर्थ
इन मंजरियों को ,
व्यर्थ कोकिला की आवाजें ।
मधु का सौदा मत कर
तेरे द्वार
आँधियों का मेला है
अगर अर्थ दे सके आज
तो
दे राशन के क्यू वालों को
अस्पताल में
टिकट ले रहे बीमारों को
और सो रहे फुटपाथों के
उन बच्चों को

जिनका कोई पिता नहीं है।
व्यर्थ बिछाए आँखें बैठी
वर्षा करने
इस अम्बर में
मेघ नहीं आने वाले हैं।
अगर अर्थ देना गेहूँ को
तो आशिष दे
वे अमरीका और रूस के
नभ से बरसें
भूमि वहाँ की प्यासी
केवल
पेट यहाँ खाली
धरती का !

दे सकती हो
तो आशिष दे
और घटे रुपये की कीमत
मूल्य बढ़े
उस सर्व-भक्षिणी
महँगाई का
जिसको भूल शब्द गाते हैं
रोज रोज उठते
जीवन के उस स्तर का
गीत
जिसे हम गुब्बारे सा
पकड़ रहे हैं।

अरी अर्थ खो बैठी कविता
आज
हास्य उसके शब्दों में
शेष रहा है।

बाँध सके तो बाँध

शब्द में
उन अर्थों को
जो कोलाहल–भरे नगर में
कवि की पीड़ा
खोज रहे हैं !
वेद बाइबिल औ कुरान से
राजनीति का आसन तुलता
तू शब्दों को बेच रही क्यों
चौराहों पर ?

वह पगडंडी
जिस पर कोई
अँधियारे को चीर बढ़ रहा
तेरी सतत् प्रतीक्षा करती ।

चल तू उसको
नई दिशा दे
नए अर्थ दे ।
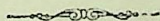
६. प्रेक्ष्य क्षितिज

हरसिंगार से झरते हुए रूप
रूपों में समाई हुई गन्ध
हवा के तैरते पंख
ये सब
उतने ही नहीं हैं
जितने के तुम साक्षी हो ।
ये सब
वैसे ही नहीं हैं
जैसा तुमने इन्हें देखा है ।

तुम्हारी वे दिशाएँ
जो तुम्हारे गीतों से मुखर हैं
उतनी ही नहीं हैं
जितनी तुमने देखी हैं ।

इन सबके आगे वह है
जिसकी तुम्हारे पास

दिशा नहीं
जिसके लिए तुम्हारे पास
शब्द नहीं...
अर्थ नहीं...
तर्क नहीं।

१०. सूरज और जलयान के बीच

पारदर्शी,
आकाश–मंथी
स्फटिक जल की दीवारें
गतिशील हैं तूफान के साथ
वृत्ताकार घूमतीं
परिक्रमा देतीं।

और उनमें घिर कर बहता जलयान
दिग्भ्रष्ट, अरक्षित
पर अभी डूबा नहीं है।

आत्मान्धी,
वायु–मंथी
तमस–जड़
जल–घटाएँ
क्षितिज से केन्द्र की ओर दौड़तीं
तेज के गर्त्त में सिर ताने खड़े सूरज को
खण्ड–खण्ड तोड़ने
अपने वृत्त में आकाश को निरन्तर
छोटा करती जा रही हैं।

विज्ञान का बूढ़ा पिता
आदमी
सूरज और जलयान के बीच
मिट्टी छान रहा है
क्योंकि
जलयान गेहूँ नहीं ला पाया।

और सूरज ?
उसके भविष्य का पता नहीं।
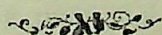
११. सूरज का भविष्य

धुँधले स्तूप की
आधी कटी लटकती
काली छत
और उसको साधे हुए
पूरे फैलाव में तना खड़ा
बुझी हुई धूप का पहाड़ ।

और उसके नीचे
कत्थई अँकुराए
किशोरी धरती के तने स्तन
झील के पाषाणी तट
और झील में डूब-डूब तैरतीं
श्यामवर्णी अरुणाएँ
जिनसे खेलने
चारों ओर से दौड़तीं
अल्पायु जल-कुमारियाँ ।
और इसी के समानान्तर
मेरे भीतर से उठा हुआ
संदर्भों का कुहरा
जिसने
किरणों के क्यू में खड़े
ओस-भक्षी सूरज को
अभी-अभी
प्यासे बच्चे के
चीत्कार से बाँध कर
किसी एकान्त गुहा में धकेल दिया है।

और इसीलिये
यह झील
जिसको चारों ओर से जिजीविषा घेरे थी

अब काली पड़ती जा रही हैं

लगता है
धुँधले स्तूप की लटकती छत
मेरे कधों पर उतरती
अद्वैत होती जा रही है।

पता नहीं
क्या होगा उस क्यू का
जिसकी अन्तिम भूखी कड़ी
कोई दूसरा सूरज नहीं
दिनभर के कोलाहल में
अपनी आवाज बेचकर
झील के किनारे भागा हुआ
'मैं'
एक मात्र 'मैं' था।
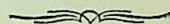
१२. आदमी

अँधेरे की खोज में
छिपे हुए जन्तु
सूरज के जाते ही
चारों ओर से टूटते हैं
टकराते
मौन में चीखते
रेंगते और दौड़ते
एक दूसरे को खाने के लिए
दौड़
शक्ति और लुकाछिपी का प्रयोग करते

फिर पेट भरने पर
पाँति की पाँति
सीधी–टेड़ी रेखाओं में
किसी बड़े अँधेरे की खोज में
सपनों की स्मृति की तरह
बिलों में रेंग जाते हैं !

आदमी भी
इन्हीं में से एक है !

अगर
वह आदमी नहीं है ।

१३. विडम्बना

सूरज खिची कमान की तरह उठता हुआ
गेंद बन जाता है
सारा युद्ध खेल बन जाता है !

अँधेरे ने रोशनी को चुन्नौती दी थी
सूरज ने
नक्षत्रों को हंसाकर
सारा आकाश ही
धूप-वर्षी बना दिया है।

और एक हम हैं
बैठकर बैंक–बैलेंस सम्हालते हैं
रोशनी की चुन्नौती को
युद्ध की खाइयाँ सौंपते हैं !

और जब अँधेरा आता है
सूरज को गालियाँ देते हैं।

१४. सोने की खान पर

सोने की खान पर बैठे हुए हम
पेट दबाते हैं
आँसुओं से खान गलती नहीं
तो निराश होकर
उड़ते जहाजों से
रोटी माँगते हैं।

वेद बेचकर
बंदूक खरीदते हैं
दूध में खून मिलाकर
गोलियाँ बनाते हैं
और
बुद्ध की मूर्तियाँ फोड़कर
मिट्टी लिए हुए
शेर की रचना के लिए
समुद्र पार जाते
उनसे रिरियाते हैं,
जिन्हें हमारे शेरों का ही नहीं
उस मिट्टी का भी भय है।

—ooXoXoo—
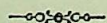
१५. जन्मने के बाद का प्रकाश

मेरी पदचाप एक
मेरे दरवाजों से जाएगी
ग्रौर मेरा नया जन्म होगा—
मैं जानता हूँ
मेरा नया जन्म होगा।

धरती की ग्राग की तरह यह पदचाप
जाने कब से भीतर जल रही है
जाने कब से मुट्ठियाँ
इसी तरह बँधी हैं
यह भूचाल मेरे ही लिए बना है
मैं चाहता हूँ
मेरे जन्म का क्षण
निश्चित मान लिया जाय
मुझसे सुन लिया जाय
कि कौनसी पदचाप
मेरे दरवाजे से चलेगी !

समुद्र पर ऐंठते तूफानों की तरह
मैं ग्रपनी साँसों के ऊपर
इस मुक्ति को ग्रौर फैला पाता हूँ
'मैं हूँ' 'मैं'
हाँ मैं, बाहर ग्राकर
सबको सुनाता हूँ
फिर वैसे ही चल पड़ता हूँ
फिर कोई जावन जीता हूँ
ग्रौर मेरी पदचाप
निरन्तर नए दरवाजे खोजती
ग्रागे बढ़ती है !
ग्रौर बढ़ती ही रहेगी
मेरी पदचाप !

१६. संदर्भों के भटकाव

तुमने बल्व जलाकर रोशनी की
कमरा चमक गया
किन्तु मैं दिखाई नहीं दिया
और मुझे वह दिखाई नहीं देता
जो अभी तक मेरे सामने
कमरे के हर कोने में चमक रहा था !

तुमने मुझे चौराहे की भीड़ में
कहीं देखा था
तब अँधेरा था
शायद सूरज डूबा था
और मैं तब यहीं बैठा था
लगा था तुम पास आ गए हो !

आदमी लगे थे तुम
पर इस रोशनी में
मुझे तुम्हारी सूरत नहीं दिखती
लगता है
प्लास्टिक का बड़ा तोता
आदमी की छाया ओढ़े
बुद्ध की बात दुहरा रहा है ।

तुम चले जाओ तो भी क्या होता है
तुम्हारे पीछे खड़ी भीड़
पर जिसकी आवाज
जो मुझे दीखती नहीं
इस रोशनी में चीख रही है
बल्व बुझा देने के बाद भी चीखेगी

क्योंकि तुमने आकर
मुझे मेरी उन दृष्टियों से अलग कर दिया है

जो अँधेरे में भी
मुझे अंधा नहीं होने देती थीं !

और अब
जबकि तुम कहते हो, रोशनी है
मुझे लगता है, मैं अंधा हूँ
मेरी पीठ पर अचानक कोई बैठा रह गया है
वह, जो भारी और स्थूल है
पर पहँचाना नहीं जाता
और चेष्टा करने पर भी
जो उतरता नहीं !

जाओ तुम
मुझे अकेला रहने दो
साफ कहने दो
तुम्हारी रोशनी नंगी होकर
अँधेरा बन गई है
मुझे साफ कहने दो
तुमने उस इतिहास को
जो अँधेरे में मेरे साथ था
पीछे धकेल दिया है
मेरी पीठ पर लाद दिया है
मुझे अंधा कर दिया है !

तुम जाओ
यद्यपि तुम्हारा जाना
कोई अर्थ नहीं रखता
फिर भी मेरा तुम्हारी रोशनी से बचना
अपने आप में असंग होना
पीठ को हलका कर छाती फुलाना होगा
रोशनी की चकाचौंध में बहकने के बजाय
हर अनजाने कदम पर
इतिहास को चढ़ाना होगा !

इसीलिए कहता हूँ
मुझे अपने अँधेरे को समझने
और असंग रहने दो

ताकि वह भीड़ अपना रास्ता बना सके
जो मेरी ही तरह
तुम्हारी रोशनी में
या तो कहीं खो गई है
या रास्ता खोजने के लिए
फिर अँधेरे की तलाश में है !

१७. अस्तित्व-स्वीकृति

किताबों के ढेर में खोया-खोया मैं
हर प्रभात में अपनी प्रार्थनाएँ सुनाता
आकाश-व्यापी शब्दों से
हर रास्ते के मोड़ को
अपना मत बताता
चिल्ला कर कहता—
तुम सब जाओ
मुझे अकेले का सुख लेने दो
कहने दो—
भगवान् होता है
मेरे साथ जागता
और मेरे साथ सोता है।

मैंने समझा था
भगवान् आएगा
किन्तु तब
जब वे सब चले जाएँगे

वे, जो मेरे सामने के रास्ते की आवाज़ थे
इंजन की चीख में मिल के भौंपू में
काम से छूटे पैरों की भगदड़ में
जो रह-रह कर गूँज रहे थे
फिर भी कुछ कहते हुए निरन्तर
आगे चलते जा रहे थे !
मुझे बार-बार सुना रहे थे—
तुम्हारी प्रार्थना झूठी है
तुम्हारी आवाज़ गूँगी है
तुम्हारी भावना अँधी है
तुम देख नहीं पा रहे
फिर भी चिल्ला रहे हो—

भगवान् होता है।

मैंने उन आवाज़ों को फिर ठुकराया
फिर कहा
एक नहीं, अनेक बार कहा
भगवान् होता है !
मैं नियम से जागकर उसे गीता सुनाता हूँ
घण्टे बजाता और आवाज़ देकर जगाता हूँ
मैं उसे नियमित रूप से
अपनी प्रार्थनाएँ पहुँचाता और मानता हूँ–
वह है !
इसलिये रास्ते की सभी आवाज़ो !
तुम मुझे अपने आप में स्थिर रहने दो
जो कुछ सहता हूँ अकेला सहने दो
तुम सब चली जाओ।

अचानक वे सब चले गए
एक–एक करके हवा के सभी स्वर
कहीं किसी अन्तरिक्ष में खोगए।

किन्तु तभी
मेरे चारों ओर आँधी उठी
कोलाहल जागा
एक विराट् सुनसान चीत्कार उठा
भीतर से एक बिजली निकली
और मेरे ही ऊपर गिरने लगी !

वे सब
जो मुझे प्रार्थना नहीं करने देते थे
चले गए थे....पर अकेला छोड़ गए थे
तूफानी लहरों ने उमड़कर
मेरा अस्तित्व समेटना चाहा

ज्वालामुखियों ने फटकर
भस्म कर देने का षड्यन्त्र रचा
और मैं चिल्ला उठा—
मैं अकेला हूँ !
आँधियों से लड़ने की शक्ति नहीं
तूफानों में टूट जाऊँगा
ये बिजलियाँ खाजाएँगी
सामने दिशा नहीं
आँख नहीं, कान नहीं, स्वर नहीं !
फिर भी वह सब देखता, सुनता, कहता हूँ
जिसमें मेरा अस्तित्व डूबता जारहा है
मैंने भगवान् को पुकारा है
पर वह नहीं आया
नहीं आ रहा
नहीं आएगा !
मैं असहाय होगया हूँ

चीखता हूँ
लो फिर चीखता हूँ —
भगवान् तुम थे
मैंने तुम्हें देखा था
जब भीड़ की आवाज़ मुझे घेरे थी !

किन्तु अब जब अकेला हूँ
तुम चले गए
मेरी आवाज़ मर रही है
अस्तित्व खतरे में है
तो तुम भी नहीं हो !

मेरी प्रार्थनाएँ लौटादो तुम
मैंने तुम्हारे भरोसे पर

भीड़ को नकारा था
उनकी आवाज़ को झुठलाया था।

तुम सचमुच नहीं हो
अकेले के लिए नहीं हो।
मुझे इन आँधियों से
तुम छीन नहीं सकते
इन बिजलियों में मेरे लिये
कूद नहीं सकते
तो क्या मैं अकेला ही मरूँ ?

तुम नहीं आए
नहीं बोले
तो अब कहता हूँ—
तुम नहीं हो।
इन पहाड़ो को
आकाश के असीम विस्तार को
चाँद और तारों को
मैं आवाज़ देता हूँ—
तुम नहीं हो !
लेकिन 'मैं' हूँ, अकेला हूँ
भीड़ चली गई
प्रार्थनाएँ चली गईं
मेरा अकेलापन नहीं गया
अब मैं इन आँधियों से लड़ूंगा
बिजलियों पर तैरूँगा
फिर आवाज दूँगा—
मैं हूँ
और एक बार फिर
भीड़ के मोड़ से टकराकर
उसे यह स्वीकारने पर विवश करूँगा

मैं हूँ !

भगवान् ने मुझे अकेला छोड़ा था
क्योंकि वह किसी भी रुके हुए का नहीं था
भीड़ से कटी प्रार्थनाओं के लिए
वह कहीं नहीं था ।

किन्तु अब मैं
अकेला नहीं रहूँगा
वह सब नहीं सहूँगा
जो अकेलेपन की देन है
और अलग बैठकर
अब किसी प्रार्थना में नहीं कहूँगा
भगवान् होता है !

आओ
लौट जाने वाली आवाज़ों
तुम मेरी आवाज़ का साथ दो
मैंने जो अकेलेपन में भोगा है
उसे सुनो
और अपने भोगे हुए से जोड़कर
मुझे उस सत्य को पहचानने दो
जो मेरे भोगे हुए क्षणों की देन है ।

—∞∞—
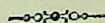
१८. काश

नींद में झँपती आँखें
बार-बार शिकायत करती हैं
भीतर कोई जाग रहा है....
जो
पलक बन्द नहीं होने देता ।

अँधेरे-दबे नीम से
पीले गुब्बारे-सा लटका चाँद
सपनों की हवा से
कौंध जाता है ।

अब पलक बन्द हैं
तो भीतर वह नहीं है
राह-भूले परदेसी-सा
चौराहे पर खड़ा
बेसुध बच्चे के लिए
गुब्बारा ताक रहा है ।

काश ! यह पेड़ न होता
यह अँधेरा
उल्टा न लटकता
और वह गुब्बारा
बाँहों में आ गिरा होता !

तब उसे चौराहे पर खड़े होकर
राह की खोज न करनी पड़ती !
और
भीतर जाने के लिए
आँख न मलनी पड़ती !
काश !

१६. सर्वव्यापी वह

हम भीड़ से अलग हैं
विधान बन गए हैं
ज्ञान में रम गए हैं
आविष्कार हो गए हैं।
किन्तु अकेले रह गए हैं!

हमारा वह
जो हम था
हम से अलग होकर
सर्वव्यापी होगया है!

राशन के क्यू में
टिकट घर पर
नौकरी की खोज में
दवा की दूकान पर
नल की टोंटी पकड़े
पेशाबघर की पंक्ति में
चिता की लकड़ियों के लिए

हर जगह
हर समय
क्यू में खड़ा है
वह
जो हमसे अलग होकर
विराट् होगया है!

—|—

२०. गेय-अगेय

किसे
क्या और कैसे
किसी को नहीं
क्योंकि
देने को कुछ भी तो नहीं !

वह जो देता है
रीता है
और
जो लेता है
खाली नहीं !

देय भी अदेय है
चुप रहो
क्योंकि यहाँ
बहरों की बस्ती में
गेय भी अगेय है !

२१. कितनी विवशता है

जिस राह से सभी चलते हैं
सबको प्यास लगती है
सबकी आँखें कुछ खोजतीं भटकती हैं ।

गन्धित फूलों को
नासिकाएँ तरसती हैं
आँसू सोखने के लिए
धूल नहीं मिलती ।

मैं उसी राह पर
फूल बिछाता हूँ
गंध लुटाता हूँ
सपने सजाता हूँ
रूप रचाता हूँ
मैं कवि हूँ
कविता बनाता हूँ
आँसुओं के लिए
संवेदनाओं की धूल उड़ाता हूँ !

किन्तु वह सब
उनको नहीं मिलता
जिनके लिए यह सब करता हूँ
कितनी बेवशी है !
दिशाएँ उस सब को बाँध कर
अपनी इस पीढ़ी
उस पीढ़ी
और उसके भी बाद की पीढ़ी के लिए
संचित कर लेती हैं !

कितनी विवशता है मेरे कवि की !

उन सब की !
और उन सबकी भी
जो उनके पीछे आ रहे हैं
पीछे आने वालों के भी
और पीछे आएँगे !

वे सब
मुझ पर तरस खाएँगे
क्योंकि अपनी शब्द-शक्ति का एक-एक अणु
मैंने उन्हें देने के बहाने
उन दिशाओं को अर्पित कर डाला है
जो मेरी अभीष्ट नहीं थीं ।

कितनी विवशता है
मेरी
और उन सबकी !

---

२२. न जाने क्यों

तुमने कहा था
जब बादल घिरने लगे
आँखों में सावन उतर आए
सड़कों पर उलझती छायाएँ
रोशनी को तरसने लगें
तब तुम मुझे याद कर लेना !

लेकिन आज
बिना बादलों के
तुम याद आरहे हो
सावन की धूप
आँखों के आँसुओं को निचोड़ने जारही है
रोशनी है किन्तु फिर भी
छायाएँ एक दूसरी पर सन्देह किए
उलझी पड़ी हैं।

आज न जाने क्यों
सड़क का सारा कोलाहल
मंदिर की प्रार्थनाओं में डूब गया है
लगता है
सचमुच तुम पास आ रहे हो !

तुम
जो अपने नन्हें मुन्ने के लिए
बाजार में खिलौने ढूँढ़ते–ढूँढ़ते
बन्दूक तानकर खड़े होगये थे !

क्योंकि
तुम्हें खिलौने के बाद आने वाली मुस्कान की
उसके भी बाद आने वाली घृणा से

रक्षा करनी थी !

न जाने क्यों
आज तुम नहीं हो
तुम्हारी मुस्कान नहीं है

किन्तु तुम्हारी बन्दूक का साया
किसी घृणा को कैद किये खड़ा है
और उसी के पास खड़ी तुम्हारी याद
तुम्हारे नन्हें मुन्ने को
न जाने क्यों
बार-बार रुला जाती है !

२३. अनबजे साइरन

बात एक बगीचे की है
जिसका माली उदास बैठा है
क्योंकि उसने जिनके लिए गंध उगाई थी
वे उससे बारूद माँगते हैं।

अजन्ता-एलोरा की आँखें
जो कल तक मुस्कान से भरी थीं
जड़ गई हैं
ताजमहल का दिल
कँगूरों में काँप रहा है
मंदिर मस्जिद गिरजाघर
जो अब तक प्रार्थना के चरणों से
समुद्रों पर चलते थे
अनबजे सायरनों की आवाजों को
जन्म दे रहे हैं !

डालर के इंजेक्शन
जच्चाघरों में लग रहे हैं
और
ऊपर उड़ रहे हैं
उसी के सेबरजैट।
पैटन टैंकों का धुआँ
गेहूँ से बदला लेता है
और फूलों की मजारों पर
खंदकें उतर रही हैं !

बगीचे का माली आज से नहीं
उसी दिन से उदास है
संस्कृति का डालर
जिस दिन

पैटन टैंक की बारूद बन रहा था !

लेकिन
वह जानता है
एक फूल का जन्म
सैंकड़ों टैंकों की राख से होता है।

अब वह फूल नहीं
वह आग ही उगाएगा
जो पैटन टैंक, सेबरजेट
और राकेटों को
राख बना सके !

वह राख
जिससे कभी न मुरझाने वाली
गन्ध का जन्म होगा
वह राख
जिसे फिर किसी का डालर
आग नहीं बना सकेगा।
और जिससे जन्म लेगी
कभी न मुरझाने वाले
फूलों की गंध !

—०—

२४. ग्रावाज़ों का पहाड़

साइरन की ग्रावाजों का पहाड़
कान के पर्दों पर उड़ता–उड़ता
वेद, बुद्ध, महावीर, नानक
ग्रौर गांधी की
ग्राँखों पर छा गया है !

बन्दूक की गोलियाँ
टैंक ग्रौर सेबरजेट
ग्रौर" ग्रौर बारूदी धुग्राँ
बस
ग्रब इन्हीं को रोकने के लिए
ग्रावाज़ें ..... ग्रावाज़ें
किताबी गीत !

....हम युद्ध नहीं करते हैं
हम कभी नहीं मरते हैं
हम स्रष्टा हैं जीवन के
इसलिए मृत्यु की गोदी में
हम ग्रमृतघट धरते हैं !

ग्रमृतघट....ग्रमृतघट !
जो ग्रब विष से भरता जा रहा है !
ग्रौर बनता जारहा है
साइरन की
ग्रावाजों का पहाड़ !

२५. लौटती हुई जिजीविषा

अँगुलियों से झरे नाखून
बुद्धि में अँकुराए
फूलों के लिए
डालियोंकी जगह
काँटे उभरने लगे
छाती तानकर खड़ी होगईं पहाड़ियाँ
लौटती हुई जिजीविषा
लटक गई साँझ के कंधे से ।

आँसुओं के बादल
सीली झोंपड़ियों में
अँधेरा बोने के लिए
धीरे-धीरे मँडराए !

गुलाबों को पीसकर
रँगे गए ओठ
अँधेरे की प्रतीक्षा में
आकुल हुए और
आँखों के प्याले छीनकर
सुबह-शाम
विष पीने को
रह-रह कर ललचाए !

मिट्टी और जल
सबसे होगई घृणा
प्यास-हीन, संदर्भ-हीन
उछलती मछलियों के जमघट में
रूपवान बनने के लिए
हम सब घिर आए !

अजीब टकराहट है

औरों से नहीं
अपनी अपने से
न कुछ की
न कुछ के लिए
हम सबके खोखले अस्तित्व
जिजीविषा लिए हुए
बार-बार धरती से उड़े
बार-बार थक कर
शून्य में टकराए !

टूटते विश्वासों का
ऐसा कोई मूल्य नहीं
काँटों से फटे न जो
हमारी जिजीविषा का
ऐसा कोई छोर नहीं
पैसे से बिके न जो !

नाखून काटने थे और
एटम ले आये
हमारे ही रक्त से
जो हमें रँगता है
वर्तमान् पर पड़े उसके दाग
'कल' को बताएँगे
काली गुफाओं के प्रेत हम
आदमी के सिर छाए

२५. लौटती हुई जिजीविषा

अँगुलियों से झरे नाखून
बुद्धि में अँकुराए
फूलों के लिए
डालियोंकी जगह
काँटे उभरने लगे
छाती तानकर खड़ी होगईं पहाड़ियाँ
लौटती हुई जिजीविषा
लटक गई साँझ के कंधे से ।

आँसुओं के बादल
सीली झोंपड़ियों में
अँधेरा बोने के लिए
धीरे–धीरे मँडराए !

गुलाबों को पीसकर
रँगे गए ओठ
अँधेरे की प्रतीक्षा में
आकुल हुए और
आँखों के प्याले छीनकर
सुबह–शाम
विष पीने को
रह–रह कर ललचाए !

मिट्टी और जल
सबसे होगई घृणा
प्यास–हीन, संदर्भ–हीन
उछलती मछलियों के जमघट में
रूपवान बनने के लिए
हम सब घिर आए !

अजीब टकराहट है

औरों से नहीं
अपनी अपने से
न कुछ की
न कुछ के लिए
हम सबके खोखले अस्तित्व
जिजीविषा लिए हुए
बार-बार धरती से उड़े
बार-बार थक कर
शून्य में टकराए !

टूटते विश्वासों का
ऐसा कोई मूल्य नहीं
काँटों से फटे न जो
हमारी जिजीविषा का
ऐसा कोई छोर नहीं
पैसे से बिके न जो !

नाखून काटने थे और
एटम ले आये
हमारे ही रक्त से
जो हमें रँगता है
वर्तमान् पर पड़े उसके दाग
'कल' को बताएँगे
काली गुफाओं के प्रेत हम
आदमी के सिर छाए

---

२६. रुके हुए वे

भीतर की घृणा
बाहर जब आती है
मुस्कान बन जाती है
विष देने का आयोजन करते हुए वे
सामने आकर
गुलाब का फूल भेंट करते हैं।

मधुमक्खियों के छत्तों से
शहद निचोड़ते हैं
वे !
चाय के प्याले में
हलाहल घोलते हैं।
जीना चाहते हैं किन्तु
समय को पकड़ कर।
दौड़ते हुए
टकराते हैं
और समय
आगे निकल जाता है।

किन्तु अपने ही केन्द्र पर
फिर भी घूमते हुए वे
समझते हैं
समय को धकेल कर
आगे जा रहे हैं !

पीछे भी समय है
अनन्त
किन्तु रुका हुआ
जिसमें वे
दौड़ नहीं सकते

हलाहल से अमृत को
तौल नहीं सकते
वहाँ जिन्दगी से घृणा का
और मौत से अमृत का
व्यापार
चल नहीं सकता ।

वहाँ जो कुछ है
एक रूप
और एक रस है ।

अहम् में इदम्
और इदम् में अहम्
वहाँ संक्रमित नहीं होते ।

वहाँ घृणा घृणा है
और मुस्कान मुस्कान
उसके भीतर-बाहर की एकरसता से
आने वाले कल को
संघर्ष नह ।

इसीलिए वह जो बीत गया
आगे जा रहा है
और वे
जो हलाहल बोते दौड़े हैं
गिर कर रुक गए हैं !

—•—

२७. प्रतीक्षा में

मिलन-कक्ष की सज्जा
मेरे आडम्बर की अभिव्यक्ति है
जीवन की नहीं ।
फर्श की यह कीमती कालीन
उस पर जमे सोफे
दरवाज़ों-खिड़कियों के परदे
दीवारों के रंग
और उन पर कसीदे-टँके
बुद्ध, गांधी, टैगोर
ये सब विवशताओं की अभिव्यक्ति हैं
जीवन की नहीं !
इन सबके लिए
बच्चों के गालों की सुर्खी बिकी है
पत्नी की मुस्कानें गिरवी रखी गई हैं
अपने भीतर जनमते एक नए इन्सान का
गला घोंटा गया है ।

इसीलिए मेरे दोस्त !
इन गमलों के फूलों की हँसी
मेरी आँखों को कोमल नहीं लगती
चारदीवारी की यह हरी दूब
जो हर बार बढ़ने पर काट दी जाती है
मेरे हृदय के लिए मखमल नहीं बनती ।

मैं इन सबके बीच खड़ा होता हूँ, घूमता हूँ
कभी नीचे और कभी ऊपर देखता हूँ
तुम आए नहीं
शायद अब आते हो
इसी प्रतीक्षा में अपने अस्तित्व को
भीतर ही भीतर कचोटता हूँ

क्योंकि मैं जानता हूँ
तुम मुझसे नहीं
मेरे आडम्बर से मिलने आ रहे हो।

और इसी प्रतीक्षा में मेरा अस्तित्व
घुटता जा रहा है।
बुद्ध की करुणा, गांधी की अहिंसा
और टैगोर का आत्म
कब काम आयेंगे ये सब ?
कब खुली खिड़की से आती हवा, सुनहरी धूप
मेरे अस्तित्व का अमृत-बोध
तुम्हारी आँखों में उतारेगी ?

शायद तब
जब तुम मुझे देखने नहीं
मुझसे मिलने आओगे !

और इसीलिए अब मैं
इन सब पर्दों, रंगों, गमलों
हर बार कटती दूब
और इस चारदीवारी के
बाहर हो जाना चाहता हूँ।

पहुँच जाना चाहता हूँ दूर
उस ऊँची पहाड़ी पर
जहाँ से घाटी की लहरती दूब
उस पर नाचती ओस, झरती धूप
सब मेरे दोस्त होंगे।

और वहाँ जब तुम मुझसे मिलोगे
तो लगेगा
मैंने कभी तुम्हारी प्रतीक्षा नहीं की थी।

---

२८. छाया-स्वर

दूर तक फैले मरुस्थल की गोद में
धुँधली संध्या के नंगे स्वप्न-सा
एक पेड़ खड़ा है
पत्र और पुष्प-हीन
आकाश की बाँह में जकड़ा पड़ा है अंधकार
दिशाओं से टकराती है
किसी की चीख, किसी का कातर मौन
बालू में फैला है
अभी-अभी टूटे हुए युद्ध-पहिये का घर्घर
और उस पेड़ का पक्षी
आकाश के समस्त आयाम पर
चेतना का प्रश्न-चिह्न
उसके मौन से टूटे हुए स्वर उत्तरों से टकराते हैं
क्योंकि वे उत्तर भी और दूसरे उत्तरों से टकरा चुके हैं !

एक ईंट दूसरे ईंट से
एक ध्वज दूसरे ध्वज से ।
एक का स्वर दूसरे के स्वर से ।
क्योंकि
यहाँ पूरी परम्परा ही टकराती रही है !
पक्षी की छाया-ध्वनि क्षितिजों को नाप कर
सूरज से पूछती है
रक्त-सनी चादर पर कितने तुम दौड़ोगे
कितने आयामों से अपने अहं में
धरती को बाँधोगे ?
तम को आकाश से कब तक लड़ाओगे ?
अपने अहं में नीली झील रक्तिम कर
कब तक जन्म दोगे बोलो निशाओं को !
गूँगी बनाओगे कितनी दिशाओं को ?

२९. अस्तित्व-बोध

अँधेरे के परतों में
टूट-टूट कर झरते तारे
राह को बाँधते हैं
पैरों को नहीं !

सूनी घाटियों में तैरती चीख
उन बादलों की है
जो कहीं भी टकराएँ
झरने बनेंगे !

मेरे अकेलेपन की उदासी
उन चिह्नों की है
जो राह पर अकेले छूटते रहे हैं
पैरों की नहीं !

ये आँखें !
जो दूर तक भटकी हैं
किसी खोज में नहीं
उस अँधेरे को पीछे धकेलने
उस चीख को नीचे उतारने
उन चिह्नों को अधिक उदास बनाने
ताकि वे सब समझें
मैं रुकने के लिए नहीं
चलने के लिए देखता हूँ
अस्तित्व-बोध के लिए
हिम-सा जमता नहीं
पर्वत-सा पिघलता हूँ !

—•—

३०. संदर्भों के टीले

टूटती हवाओं में बनते और बिगड़ते
संदर्भों के टीले
मुझे भीतर ले जाते हैं, कहीं दूर
जहाँ मैं अजन्मा ही घुटता रहा हूँ
किसी संस्कार को
किसी परम्परा के लिए
न चाहने पर भी समर्पित होता रहा हूँ।

जाने कितने दबाव, कितने धक्के
कितने प्यार ‥ आग्रह
मुझे भीतर ही भीतर कचोटते रहे हैं।

हर बार एक टीले से एक हवा टकराती है
टीला उड़ता है, नई जगह घेरता है
पुरानी जगह नया टीला
उसी दबाव से जन्म लेता है।

किन्तु मैंने समर्पण की रेत से
अब हर संदर्भ को तोड़ दिया है
हर हवा, जो मुझे भीतर ले जाने को आ रही है
अब टूटकर किसी टीले से दबेगी नहीं
आकाश में उड़ते अनजान पक्षी
काली कतारों पर तैरते संगीत
आकाश के ये टीले
मेरे नए संदर्भों को जन्म देंगे।

उन संदर्भों के टीलों में रेत नहीं बनूँगा
हवाओं को टूटने नहीं दूँगा
क्योंकि मुझे ही तो
आकाश के पक्षियों को स्वर की रेखाएँ देनी हैं।

३१. अन्तिम प्रश्न

चक्रव्यूह में उलझ गया अभिमन्यु,
तपस्या व्यर्थ तुम्हारी !
व्यर्थ पाशुपत अस्त्र और गीता ओ अर्जुन !
कहने को तो बाँध चुके तुम
आकाशों को, पातालों को
राकेटों के नीचे धर कर
चाँद निचोड़ा
किन्तु उत्तरा के यौवन की
गंगा पर झरते मेघों की
विषधारा को रोक न पाए ।

मानव ने अपने हिमगिरि को
बहुत सम्हाला
किन्तु गला ही दिया अन्त में तुमने उसको
आग लगाकर पाषाणों में ।
बोलो कैसे नहीं हिलेगा
युग-युग से डूबा समाधि में शंकर का मन
जब सारी धरती के ऊपर
जल-प्लावन की तैयारी है ।

रंग बनाते रहे चित्र ही रहा ध्यान में
खिसक चला आलम्बन
कैसे सृष्टि जिएगी ?
कहाँ रखोगे वह असीम सौन्दर्य
शक्ति से जिसे बाँधते
जब कि प्राण घुटता गैसों में
शिव ही शव बनते जाते हैं ।

---

३२. काया–कल्प

अनास्था और कुण्ठाओं की
दम तोड़ती काली कंदराओं में
उलटे लटकने का अभ्यास छोड़कर
काया–कल्प करो
ओ आदम के बेटो !
आदमी बनो !

आरहा हूँ मैं
ज्योतिर्मयी उषा के
दिव्य रथ पर आरूढ़ होकर
अमावस्या के असंख्य आकाशों को चीरता हुआ
मैं आरहा हूँ
सूरज का नया बेटा मैं !
तुम्हारे लिए प्रकाश का
अन्त-हीन सिंधु ला रहा हूँ !

उठो
फूलों को जन्म देने वाली कलियाँ
विहग–बालिकाओं की ध्वनि
चेतना को झकझोरने वाले
सुनहरे चूर्ण की वर्षा
ये सब इस अंधकार के उस पार
तुम्हारे स्वागत की प्रतीक्षा में हैं !

तुम उठो
अपनी प्राण-ज्योति के समस्त प्रकाश से
माटी के दीपकों में
नया स्नेह भरो
नई आस्था दो !

—

३३. अँधेरे रास्तों पर

स्वतन्त्रता की सुनहरी सिलवटों के बिम्ब
डूबते जा रहे हैं
भ्रष्टाचार की अमा के तल-हीन सिंधु में
और उस पर कहीं दूर
मानव की जीवन-चेतना का चाँद
सोए हुए ज्वारों के वियोग में
समय की शिलाओं पर
सिर पटक कर दम तोड़ रहा है !

कैसे आएगा सूर्योदय
नया सूर्योदय
ओ सिंधु !
तुम धरती से उठकर
आकाश तक छा गए हो !
नक्षत्र बुझते जा रहे हैं
जुगनुओं ने
बरसात का झण्डा उठाया है !
सभी रास्तों और उनके मोड़ों पर
भयंकर कर्दम फैल गया है
अँधेरा प्रकाश को निगल रहा है !

बोलो
कैसे आएगा
नया सूर्योदय ?
उन अँधेरे रास्तों पर
जिन पर
तुम्हारी छाया
प्रश्न-चिह्न बनी खड़ी है !

३५. एक और प्रतीक्षा

सुनसान शान्त
वह राज-मार्ग
अगणित पद-चिह्नों–पहियों की
चुपचाप सरकती रेखाएँ
अगणित बिम्बों का लिए भार
उस काले गिरि पर रहा ऊँघ
जिसके नीचे दब सोया है
उन सब विम्बों का चित्रकार !
उलझी साँसों में भरे कसक
इस पार थका नाला लेटा
जिसको घेरे कुछ झोंपड़ियाँ
मुर्गों–सी आवाज़ें समेट
गोपा-सी तत्पर बैठी हैं
कब आएँ उनके द्वार बुद्ध !

आवाज एक
उस पर्वत को
अपने मन का आकाश बढ़ा
घेरने किरण की बाँहों में
रोगी राहुल को बांध पीठ
झकझोर चली फिर राज-पंथ !

पूरब के सपने टूट रहे
ऊँघती बस्तियों का चेतन
आकाश-वाणियाँ सुनता है !
राकेट अमृत का घट निचोड़
मरती धरती को देते हैं
जीवन नवीन ।

विस्फोट सिन्धु की छाती पर
ढल रहीं गोलियाँ अग्निमुखी
घर्घर करते संस्थान
चमकते यंत्रों की
बस्तियाँ जन्म लेतीं जिनको
बादल के ऊपर बने बाँध
हरियाली चूनर पहिनाकर
सौरभ की साँसें बाँटेंगे।

चेतन का बहरा मौन कठिन
कैसे तोड़े
आवाज़ विवश
माँगती दर्द की चादर पर
सोए राहुल के लिए प्राण !
वह निगल चुकी पूरा पर्वत
रँग चुकी सुनहरी आभा से
सारा पट
जिस पर नए बिम्ब जीवित होंगे !

लेकिन इसका अस्तित्व
स्वयं खण्डित
सागर के तट पर बिखरा है।
शायद कोई कानों वाला
जागे
उस स्वर को पहिचाने !

३५. दिशाएँ उदास हैं

भारत–भारती की अर्चना
स्वरों के दीप, भावों की ज्योति
गंधित अतीत, गुंजित वर्तमान्, संकल्पित भविष्य
और वाणी का वह अमृत कलश
जो उन सब को स्नेह से भरता था
रीत गया !

आज सूरज उदास है
कौन उसे अर्घ्य देगा ?
कौन ले जाएगा उसे
पूर्व से पश्चिम तक
हिमालय के मुकुट में जड़कर
संध्या की वाणी से
कौन उसका अभिषेक करेगा ?

युग का अभिमन्यु
रथ के टूटे पहियों से
कैसे लड़ेगा समर
कौन उसके अर्जुन को
चिता के द्वार से लौटाएगा ?
कहाँ है अब वह आकाश
जो गांडीव की टंकार से गूँजेगा ?
और उर्मिला के आँसुओं में
धरती की प्यास बनकर तारों के साथ झरेगा ?
दिशाएँ उदास हैं
क्योंकि मौत के अँधेरे में
कहीं दूर —
आज उनका गीत गया।

३६. रोशनदान के आर-पार

आकाश में टँगे, अधकटे
हे नए वृक्ष !
तुम्हारी कोपलें
तुम्हारे फूलों का रस पी रही हैं
डालियों पर बैठी कोयलें
कुहू की घुटन में
हर क्षण आँसू बहातीं घुल रही हैं !
तुम्हारी आत्मा काली नदी में उतर कर
एक द्वीप बन गई है !
उस द्वीप पर घूमता हुआ एकाकी 'मैं'
अपने ही लिए
अपना एक अजनबी हो रहा है !
और एक वायवी भवन की खोज में
दिन को रात
और रात को दिन कहता जा रहा है।
वह देख रहा है
भवन तो नहीं
पर एक, केवल एक
रोशनदान है।
हे अधकटे वृक्ष !
तुम अपनी आत्मा उसे देदो
ताकि वह
इस रोशनदान के आर-पार
पार के भी पार
जा सके और ला सके
वह धरती
जिससे तुम अलग हो गए हो !

—•—

३७. उस कालजयी को

काली झील की शान्त लहरों में
ज्योति-शिखर का देवता
अभी-अभी कूदा है ।

पीयूष-निर्झरों में झरती हुई
उसकी किरणें
आकाश की सीमा नाप रही हैं ।

ज्वालामुखियों की आग
सागर-मन्थन का विष
अगणित भूचालों के कम्पन
और असंख्य जल-प्लावनों के महानाश
उसके एक संकेत पर शान्त होते थे ।

वह क्षण एक नहीं अनेक था
जिसमें वह डूबता था
वह युग एक नहीं अनेक था
जिसमें वह खिलता था ।

आज वह डूबा है
तो एक नहीं अनेक डूबे हैं
कल वह फिर खिलेगा
एक नहीं
अनेकों में ।

चुप रहो लहरो !
तुम्हारा विष उसने पिया है
जिसका अमृत अनेकों में बँट गया है।
वे अनेक, किन्तु आपस में एक हैं ।

उस देवता की कोई भी किरण

बुझी नहीं
बुझा नहीं सकती काली झील उसे।
वह अमर है।
अमर है उसका ज्योति-शिखर
और अमर हैं वे पीयूष-निर्झर
जो कल तक उसने दिए थे।
आओ हम सब अनेक
एक अञ्जलि में
ज्योति-स्नात अश्रु भर
कसकती आँखों से
श्रद्धा का अर्घ्य दें।

और प्रतीक्षा करें
उसी के समान कालजयी साहस ले
कब कौन उसका उत्तराधिकारी
हमारे भीतर से उदय होता है।

३८. आँख के आयाम

आँख के भौतिक आयाम ने
नयी धरती को जन्म दिया है
चन्द्र का देवत्व पचाकर
आदमी भीतर सिकुड़ गया है
बाहर वह नहीं फैला
उसके नाखून फैलकर
बारूदी हो गए हैं।

पसीना पानी से सस्ता है
खून अब राहगीर नहीं
तोपों के पहियों के लिए
आकुल, प्रतीक्षा-रत
सुनसान रास्ता है

अब मच्छर नालियों में नहीं रहते
दवा इतनी बढ़ गई है
आदमी के चेहरे पर बनते हुए नए गड्ढे
उन्हें आश्रय देते हैं।

ज्ञान की खाइयों में मौत के मेले की
चहल-पहल होती है
आदमी रोशनी लूटता है
अँधेरे में खाता है।
कोलाहल की ध्वनियों से भूख का संगीत
जन्म से पहले ही मर जाता है।

आओ आज हम सब
राह के पेड़ बनें
आँखों के आयाम की
रोशनी को नापें
देखें ऊपर की धरती
नीचे क्या लाती है!

३९. माही का संगम

सोम और जाखम के आलिंगन में
कसी हुई माही
शत-शत शालग्रामों में
चेतना के लोक ढालती
सिमट कर बन गई है
वेणेश्वर का कण्ठहार
और उसके तीर
अन्धकार से टूट कर
अभी-अभी फूटा है
सूरज का सुनहरी कलश
रंग छितरा कर
दूर तक लहर गया है !

किनारे की भीड़
टूटे-फूटे स्वर
और उनमें कौंधती
कुछ काली नंगी आकृतियाँ
कुछ गोरे रूप
उल्लास से खुलती दृष्टियाँ
और विस्मय से सिमटती कुछ रेखाएँ !

नंगे मटमैले पहाड़
दूर-दूर तक फैला
एटम-विस्फोट के बाद का सन्नाटा
जैसे !

और उसे पी रहा है
माही का संगम !

ऊपर छूटतीं

अँधराती राहें
और फूटे कलश के निंदियाते सपने ।

कल फिर
माही का अमृत पीकर
यह कलश उठेगा
नए प्रभात का सूरज
आकाश में चलेगा !

और कल फिर
कोई अँधेरा
गंधों की आँधियों को
अचानक छलेगा !

यह भीड़
सूरज के साथ चली जाएगी
और वेणेश्वर के कण्ठ में पड़ी
माही
कल फिर एक नए सन्नाटे में
गिनेगी अपनी बहिनों की छाती के
पथरीले दाग !

—•—

४०. टूटते पुल

हम–तुम नहीं जिएँ
उन मछलियों की तरह
जिन्हें जाल में भर कर
साँसें दी जाती हैं ।

हम–तुम
सरोवर में तैरें
और जल की ऊपरी सतह पर
सूरज की किरणों को पकड़ें
उन जिजीविषाओं की तरह
जिन्हें
लहरों की धड़कनों में
किनारों पर सहा जाता है ।

छूटती परछाइयाँ
झुंड–झुंड निगलें
टूटते पुल
आँखों में बाँधें
कोई कहे न कहे
रात और दिन को
साँसों से साधें

हम
और तुम !

—•—

४१. घेरों के मोड़

सूरज की राह पर
चलता हूँ, किन्तु मुड़
भीतर के घेरे मुझे
घेर घेर लेते हैं।

रुकता हूँ
लगता है
तम की गुफाओं के
तल पर उतार कर
राहों के घेरे मुझे तोड़-तोड़ बोते हैं।

बिखरा हुआ हूँ मैं
संस्कार-पर्तों में
रिस-रिस कर बहते घाव
ऊपर की यात्रा को भीतर डुबोते हैं।

घेरों के मोड़ ये
अनास्था निराशा के वाहनों पर घूम-घूम
गढ़ते हैं रूपाकार
मेरे अस्तित्व को
काल-जयी कहते हैं।

भीतर के घेरों में
बँध कर अभिमन्यु-सा
टूटा हूँ बार-बार
किन्तु मोड़
सत्य-हीन प्राण-बोध देते हैं।

आह ! मृत्यु हर बार
मुझ को असह्य यह !
काँटों की राह मुझे चलने दो
मोड़ जहाँ फूलों को रोते हैं।

४२. झील–तट

पथरीली बाँहों में
झीलें कसे हुए
सतरंगी चूनरवाले
संध्या के घन
नभ का श्रृंगार धरा को दे
हिलते दर्पण पर तैर रहे
ज्यों अनगिन धागों–खिंची
किसी
प्रौढ़ा के मन की सीप
मचलती पाल रही
अनचीन्हा–सा सपना कोई !

पर्वत के पीछे खिसक चला
तम के वन में
वह पंगु अहेरी
किरणों का
कत्थई जाल
जल से निकाल।

मेघों के नीचे
उड़ते स्वर
काली रेखाएँ इधर–उधर
तरुओं के सिर से बाँध
उतरते पत्तों पर।
हैं खोज रहे अपना कोई !
अनचीन्हा–सा सपना कोई !

सहसा
रँग मेघ–शिलाओं को

कौमुदी हँसी से,
खिला चाँद।
झर उठे झील के अंचल पर
शत रजत सुमन
बिखरा पराग।
ऊँघते कगारों के सपने
बनगए झील में
स्वर्ण-नाग
जो तीव्र वेग से दौड़
मचलते इधर-उधर।
घिर गई मधुर रचना कोई!
अनचीन्हा-सा सपना कोई।

एकाकी तट पर छाया-सा
'मैं' एक लौटने लगा नगर
उस रूप-स्वप्न में बँधा-बँधा
'मैं' एक दूसरा
अभी वहीं
उन नागों का विष पीता हूँ।
आश्चर्य!
विभाजित होकर भी
मैं अभी
झील-तट जीता हूँ
बिम्बों की मधु छलना कोई!
अनचीन्हा-सा सपना कोई!

—•—

४३. एक संध्या

मटमैली चोटियों से
रेंग रश्मि–जाल पर
पीछे लाल झील में
कूद गया सूरज ।
डूब गया सूरज ।

धरती की माँग का
एक भाग इस पार
एक भाग उस पार
भरता सिन्दूर
डूब
आर–पार माँग के
तैर गया सूरज ।
डूब गया सूरज ।

पूनम का चाँद उठा
धरती–मुख–बिम्ब-सा
यौवन के भार नत
दृग से रस–बिन्दु झर
तारों का रूप ले
बिखरे गगन में ।
श्यामल चिकुर–से
धुलते हैं जिससे
पादप–लताएँ मौन ।
स्वप्नों की छायाएँ
टाँक पात–पात से
दूर गया सूरज ।
डूब गया सूरज ।

काँपती उदास झील

सपनों के घेरों में
टूट रहीं चीखें दूर
तम–भरी घाटियों की
चाँदनी की छाँव बैठ
धरती मुस्काती है
आस्था अखण्ड
कल
आएगा भिक्षुक–सा
लौट फिर उसी के द्वार
आज ज्योति–दानी बन
रूठ गया सूरज।
डूब गया सूरज।

४४. पार्क के किनारे

भौं-भर्र ··भौं-पौं के चक्र पर
रेंगता रहा राज-मार्ग
आकाश में कुहराने लगा चाँद
ठूँठ से लटक आई चाँदनी
और हम
मकानों--दूकानों से दूर
फूँस जलाते--जलाते निंदिआ गए ।

घास पर जमने लगी ओस
भवनों पर मडराने लगा अँधेरा
और हम
रंगीन टुकड़ों की भावात्मक एकता से ढके
ऊँघते रहे नंगे पिता की गोद में
जो रात भर गीता का श्लोक बना
हमें 'कल' को सौंपने के लिए
माँ की प्रेतात्मा से कहता रहा–
तेरे ये जुड़वाँ बच्चे
मेरे बाद भी ऐसे ही जिएंगे ।

और पार्क के पीछे पुस्तकालय में
मार्क्स--गांधी--सार्त्र ना
कुतरते रहे चूहे ।
सवेरा होते ही उन कुतरनों से
हम फिर बीनेंगे चेहरों के
लाल--श्वेत--पीले
चमकीले--भड़कीले रंग
हम दोनों··········
वे सब !

४५. माँ ! ......श्रद्धाञ्जलि !

दुख--दैन्य के हिमालय से
दबी हुई समाधि
मेरी क्षीर--गंगे !
किस तीर्थ पर तुम्हें खोजूं !
कहाँ हैं तुम्हारे चरण
जिन पर चढ़ाऊँ अश्रु !

तुम तो निर्वाण पागईं
किन्तु
वे कंधे
जो तुम्हारी अरथी में नहीं लग सके
एक दूसरे हिमालय से दब गए हैं
और दबे रहेंगे माँ !
जब तक
मुझे भी निर्वाण नहीं मिलता ।

'अहं मेरा गेय' की कविताओं को मैं स्वाधीनता के पश्चात् रचित हिन्दी काव्य की श्रेष्ठतम उपलब्धियों में सम्मिलित कर सकता हूँ। मुझे विश्वास है कि यह संग्रह साठोत्तरी हिन्दी-कविता के इतिहास में डा० दिनेश की एक महत्त्व – पूर्ण देन माना जाएगा।

डा० देवराज उपाध्याय

डा० दिनेश का साहित्य

काव्य

१	सारथी (महाकाव्य)	८.००
२	जलती रहे मशाल (गीत)	४.५०
३	आयाम (कविताएँ)	३.००
४	मधुरजनी (गीत)	४.००
५	जयघोष (गीत)	२.००
६	हिमप्रिया (खंडकाव्य)	२.००
७	विश्वज्योति बापू (,,)	२.००
८	उत्सर्ग (,,)	२.००
९	दुर्वासा (,,)	१.००
१०	संघर्षों के राही (गीत)	१.००
११	गौरव-गान (,,)	१.००
१२	सर्वोदय के गीत	१.००

नाटक

१	सोमनाथ	२.००
२	सदानीरा	२.००
३	शान्ति के प्रहरी	२.००
४	द्रोण का शिष्य	२.००
५	लोकदेवता जागा	१.००
६	विजय-पर्व	२.००
७	धरती का देवता	१.००

उपन्यास

१	बदलती रेखाएँ	२.५०
२	राह और रोशनी	२.५०

कहानी-संग्रह

१	आकाश के यात्री	३ ००

शोध और आलोचना

१ हिन्दी-काव्य में नियतिवाद
२ शोध और समीक्षा
३ मीमांसा और मूल्यांकन
४ हिन्दी-शिवकाव्य का उद्भव और विकास*
५ कामायनी का नया अन्वेषण*
६ साहित्य के नए संदर्भ*
७ हिन्दी भाषा और उसका इतिहास
८ प्रताप की काव्य-साधना
९ खड़ी बोली के प्रतितिधि कवि
१० प्रेमचंद और उनका गोदान
११ हिन्दी साहित्य का आदर्श इतिहास
१२ बृन्दावन लाल वर्मा और उनकी मृगनयनी
१३ काव्यालोचन
१४ तुलनात्मक विवेचन

*शीघ्र प्रकाश्य-ग्रन्थ : सूरतिमिश्र-ग्रन्थावली (चार भाग) तथा
आचार्य सोमनाथकृत "शशिनाथ-विनोद"